श्री श्री आनन्दमूर्ति

# जीवन दीपिका

श्री श्री आनन्दमूर्ति

प्रथम मुद्रांकन : 2005

अनुवाद - आचार्य ज्योतिप्रकाशानन्द अवधूत

प्रकाशक :
**आचार्य रूपातीतानन्द अवधूत**
प्रकाशन सचिव

**आनन्दमार्ग प्रचारक संघ (केन्द्रीय कार्यालय)**
आनन्दनगर पो. बागलता
ज़िला- पुरुलिया(पश्चिम बंगाल)
723215

लेजरटाइपसैटिंग : **भगवती प्रिंटोग्राफ**
1810/1, निकट डी.डी.ए. पार्क, साउथ एक्सटेंशन पार्ट-1,
नई दिल्ली - 110003

मूल्य : **बीस रुपये मात्र।**

# जीवन दीपिका

मन, आत्मा का गुणात्मक विकाश है और देश (space), काल (Time) व पात्र (person), इन तीन तत्वों पर निर्भर रहता हैं इन तीनों को मन की आधार भूमि कह सकते हैं। देश काल और पात्र, इन तीनों में से किसी एक के न रहने पर मन भी नहीं रह सकता अर्थात मन भी अस्तित्वविहीन हो जाता है। देश, काल, और पात्र, इन तीनों का एक विशिष्ट स्वभाव है। वह, यह कि किसी एक के न रहने पर बाकी दो भी नहीं रहते। जैसे देश यदि न रहे, तो काल और पात्र भी नहीं रह सकते। देश नहीं है तो पात्र कहाँ खड़ा होगा? और काल किसे कहते है।? विशेष देश (या स्थान) पर विशेष पात्र की गतिशीलता या क्रियाशीलता के परिमाप को काल कहते हैं। अर्थात देश के न रहने पर काल भी नहीं रहेगा। ठीक इसी प्रकार काल के न रहने पर देश और पात्र भी नहीं रहते। और पात्र के न रहने पर देश और काल दोनों निरर्थक हो जाते हैं। जब तुम ही नहीं हो,तो तुम्हारे लिए भारतवर्ष, पृथ्वी और ब्रह्माण्ड के होने न होने का क्या अर्थ है? सोई हुई अवस्था में तुम्हारा अस्तित्व लगभग शून्य हो जाता है। उस समय बारह बजा है या छः बजा है, इन बातों का तुम्हारे लिए कोई मतलब नहीं रहता। तुम्हारी सोई हुई या ज्ञान-शून्य(अर्थात मूर्छित) अवस्था में काल भी नष्ट हो जाता है।

परिद्दष्यमान जगत् की समस्त वस्तुएं देश, काल और पात्र, इन तीनों के सहयोग से उत्पन्न होती हैं। और ये तीनों सत्ताएं भी एक दूसरे पर निर्भरशील हैं। इसी निर्भरशीलता के कारण इन्हें आपेक्षिक सत्य कहते हैं।

देश, काल और पात्र इन तीनों पर प्रतिष्ठित होने के कारण, मन को हम त्रिभौमिक सत्ता कह सकते हैं। इस मन का विकाश दो प्रकार से होता है-(1) जिस विचार ने मानसिक स्तर पर संवेदन का रूप धारण कर लिया है। यह शुद्ध मानसिक प्रक्रिया है; (2) जिस संवेदन ने बाहरी रूप धारण कर लिया अर्थात बाहरी जगत में कार्यान्वित हुआ। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रिया का कोई भी अंश बाहरी नहीं होता है। उसका उद्गम-स्थल, भीतर, मानव के अन्तः स्थल के किसी एकान्त कोने में, उसके पूँजीभूत संस्कार के संवेदन के रूप में विराजमान रहता है।

अब प्रश्न उठता है कि मन का यह विकाश क्यों? वस्तुतः एक निर्दिष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मन का विकाश होता है। एक आनन्दधन अवस्था तक पहुँचने के लिये अर्थात एक आनन्दधन सत्ता के साथ एकाकार होने के लिए ही मन का विकाश होता है। युञ्ज+घञ प्रत्यय लगाने से "योग" शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है एकाकार हो जाना (To unify):-

(1) संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मा परमात्मनः।
(2) सर्वचिन्ता परित्यागो निश्चिन्तो योग उच्यते।
(3) योगः चित्त वृत्तिनिरोधः।

सभी कार्यो का अन्तिम उद्देश्य "योग" ही होता है। भूख लगने पर मनुष्य अन्न प्राप्ति के लिए यहाँ से वहाँ दौड़ता है। जब उसे अन्न मिल जाता है तो उसकी दौड़-धूप समाप्त हो जाती है, अर्थात अन्न के साथ उसका "योग" होते ही उसके (अन्न के लिये दौड़-धूप करने के) छोटे से कार्य की समाप्ति हो जाती है। स्नान करने वाला तीव्र गति से नदी की ओर चला जा रहा है। नदी के जल तक पहुँचते ही वह रूक जाता है। और आगे नहीं जाता। अर्थात जल के साथ उसका "योग" होते ही उसका चलना समाप्त हो जाता है।

मन की यह जो योगमुखी गति है, इसका विकाश त्रितात्विक है अर्थात ज्ञान, कर्म और भक्ति, इन तीनों पर आश्रित है। अत: योग में प्रतिष्ठित होने के लिये ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों आवश्यक हैं। सामान्य नियमानुसार पहले ज्ञान, फिर कर्म, और उसके बाद भक्ति- इन तीनों का रहना अनिवार्य है। ज्ञानात्मक विकाश के लिये आनन्दमार्ग का दर्शन पर्याप्त है क्योंकि इस जगत् का वह एक अपराजेय दर्शन है। बाकी दो तत्वों अर्थात भक्ति और कर्म के लिये भक्ति मिश्रित कर्म-साधना का प्रावधान है, जिसे अत्यन्त सहज और सरल तरीके से समझाया गया है और जिसका पालन करने से अति साधारण मनुष्य भी बहुत कम समय के भीतर, प्रगति पथ में, अपने उद्देश्य की ओर बढ़ सकता है।

मनुष्य के सामुहिक जीवन में तप और शौच की ओर सब से अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। और ये दोनों कर्मयोग के ही अंग हैं। कर्म के माध्यम से ही सामुहिक जीवन सुन्दर तरीके से निर्मित होता है। इसलिए ज्ञान, भक्ति और कर्म, इन तीनों की महत्ता को समान रूप से स्वीकार करने पर भी, यह कहना ही पड़ता है कि सामाजिक जीवन में कर्म का महत्व अधिक है। तात्विक समष्टि के विकाश के लिये, उसके प्रत्येक सदस्य को उपयुक्त धर्म साधक के रूप में स्थापित करने के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुये काम करेंगे। समष्टि अनेक व्यष्टि का मिलित स्वरूप है। प्रत्येक व्यष्टि के मजबूत होये बिना समष्टि शक्तिशाली नहीं हो सकता। इसलिये व्यष्टि को मजबूत बनाने के लिये आचार्य और समष्टि को मजबूत करने के लिये तात्विकों को मिलजूल कर काम करना होगा।

व्यष्टि यम-नियम का पालन करने से मजबूत होता है। यम-नियम में प्रतिष्ठित होने से पाश[1] दूर हो जाते हैं और पाश के बन्धन से मुक्त होते ही कुसंस्कार अपने आप भाग जाते हैं। इसलिये

आचार्य सतर्क दृष्टि से देखता रहेगा कि व्यष्टि यम-नियम में प्रतिष्ठित हो रहा है या नहीं ? जब तक वह यम-नियम में प्रतिष्ठित नहीं होता तब तक आचार्य स्पष्ट निर्देश देकर, परोक्षरूप से समझाकर या प्रयोजन के अनुरूप आदेश देकर भी उसे यम-नियम में प्रतिष्ठित करेंगे। इसलिये याद रहे कि व्यष्टि के कार्यो पर भी आचार्य को सतर्क दृष्टि रखनी होगी। ज्ञान और भक्ति रहने के बावजूद कर्म विमुख होने से काम नहीं चलेगा। कर्म विमुख होने से, कर्तव्य को भूलने से जगत् का कल्याण हो ही नहीं सकता। ज्ञान और भक्ति से खुद का विकाश होगा लेकिन जगत् के कल्याण के लिये कर्म करना ही होगा। मनुष्य के मन के त्रितात्विक विकाश अर्थात ज्ञान, कर्म और भक्ति- इन तीनों में ज्ञान का अहंकार आ जाता है, केवल कर्म पर आश्रित रहने से उसे अज्ञान घेर लेता है और केवल भक्ति भाव में मग्न रहने से मनुष्य क्रमशः जड़ हो जाता है। क्योंकि कर्म नहीं करने से कर्म करने की क्षमता लुप्त हो जाती है, बौद्धिक अघोगति हो जाती है। इसलिये मन के त्रितात्विक विकाश के लिये, ज्ञान, कर्म और भक्ति-तीनों को समानरूप से साथ लेकर आगे बढ़ना होगा।

आगे बढ़ना ही जीवन है। मनुष्यों की अग्रगति को, जड़ता का जो बन्धन, हर एक कदम पर, अब तक बाधा पहुँचाता रहा है, आज भी रोड़े अटका रहा है, मानव जाति को उससे मुक्ति दिलानी ही होगी। कौन क्या कह रहा है, कौन तुम्हारा समर्थन कर रहा है या नहीं कर रहा है- इन बातों को लेकर चिन्तित होने का समय तुम्हारे पास नहीं है। इन पाशमुक्त मनुष्यों को यन्नपूर्वक साथ लेकर, अपने हाथों में मशाल थामे हुये तुम्हें आगे बढ़ना ही होगा-यही तुम्हारा काम है। इसी काम को करने के लिये ही तुमने इस धरती पर जन्म लिया है। स्वयं आगे बढ़ो और जगत् को भी प्रगति के पथ पर अपने साथ-साथ ले चलो। इसी तरह आगे बढ़ना ही जीवन है, धर्म है और इसी में ऋद्धि-सिद्धि

की परम प्राप्ति है। जो लोग अपने हाथ पैर समेट कर, जड़ वस्तु की भाँति बैठे रहना चाहते हैं, इस गति प्रवाह को, इस गतिशील छन्द को पकड़ कर रोकना चाहते हैं, वे इसे रोक नहीं पायेंगे। इन लोगों को धक्का मार कर, अपना रास्ता बनाते हुये तुम्हें आगे बढ़ना होगा। गतिप्रवाह बना रहेगा। आगे बढ़ते समय जो धक्का-मुक्कि होगी, दर्द होगें, मधुरता भी रहेगी। धक्का खाओगे, धक्का दोगे, जिसको धक्का दोगे, वह भी सुधरते-सुधरते आगे बढ़ेगा।

**"कलि शयानो भवति, सञ्जिहानस्तु द्वापरः**
**उत्तिष्ठं त्रेता भवति, कृतं सम्पद्यते चरण्**
**चरैवेति चरैवेति"**

(ऋग्वेद)

(सोते रहना कलियुग है। उठ बैठना द्वापर युग है। खड़े हो जाना त्रेता युग है। आगे चल पड़ना सतयुग है। इसलिये चलते रहो, चलते रहो।)

ज्ञान, भक्ति और कर्म- अपने जीवन में इन तीनों का समन्वय करके आचार्य अपने शिक्षाभाई के मन को आलोकित करेंगे। उन्हें स्वयं को भी आदर्श के रूप में स्थापित करना होगा। महाप्रभु श्री चैतन्य ने कहा है "आपनि आचार धर्म, जीवे शिखइबे" अर्थात "जिस धर्म का पालन तुम स्वयं करते हो उसे दूसरों को सिखाओगे।"

याद रखो, कुसंस्कार का मोह, एक संघातिक मोह है। अतः कभी भी ज़ोर ज़बर्दस्ती करके किसी के कुसंस्कार को खत्म करने की चेष्टा नहीं करोगे। साधक जब यम-नियम में प्रतिष्ठित होगा, तो पाश दूर हो जायेंगे और फिर कुसंस्कार भी अपने आप चले जायेगा। अतः जब तक कुसंस्कार दूर नहीं हो जाते, तब तक साधक को ध्यान, गुरूदर्शन और पूर्णिमा महाचक्र में सम्मिलित होने की अनुमति नहीं दोगे।

(आचार्यों का एक आचार्य बोर्ड होना चाहिये। अभिज्ञ आचार्यों (धर्म मित्रम् और विशेष योगी) को लेकर इस बोर्ड का गठन करना होगा। यह बोर्ड आचार्यों के काम में सहायता करेगा और आवश्यकता पड़ने पर उन्हें निर्देश भी देगा। यदि आवश्यक हुआ तो आञ्चलिक स्तर पर बोर्ड की शाखा खोली जा सकती है। लेकिन उस स्थिति में भी अभिज्ञान-पत्र (प्रमाण पत्र) केन्द्रीय बोर्ड के सेक्रेटरी की ओर से ही प्रदान किया जायेगा।)

* * * *

प्रगति के पथ पर जो आगे बढ़ना चाहते हैं, उनके सामने एक स्थिर लक्ष्य होना चाहिये। वही लक्ष्य उनके जीवन का ध्रुवतारा होगा। यह सत्य है कि लक्ष्य ठीक रहेगा तो मनुष्य दिग्भ्रमित नहीं होगा। लेकिन साथ ही साथ, पथ को पहचान कर चलने के लिये उसे प्रतिपल एक गूढ़ संकेत की भी आवश्यकता होगी। इस संकेत को समझने की चेतना जिसके पास नहीं है, स्थिर लक्ष्य होने के बावजूद उसे ठोकर खाकर गिरने की संभावना बनी रहेगी। इस संकेत के जो शिक्षक हैं, अपने आचरण के द्वारा जो यह सिखायेंगे कि किस तरह चलना होगा, दूर और पास, दोनों प्रकार की वस्तुओं के साथ तालमेल रखकर कैसे आगे बढ़ना होगा, वे ही आचार्य कहलायेंगे। और जो लोग आगे बढ़े रहे हैं, वे आगे बढ़ने के लिये उपयुक्त शक्ति सञ्चय कर सके रहे हैं या नहीं, उचित गुणों से सम्पन्न होकर आगे बढ़ रहे हैं या नहीं, इन बातों पर ध्यान देना भी आचार्य का अनिवार्य कर्तव्य है। केवल चलना ही पर्याप्त नहीं है, चलने का एक उपयुक्त स्तर (स्टैण्डर्ड) और विशिष्ट मानदण्ड होना चाहिये। अग्रगति उचित दिशा में हो रही है या नहीं, यह देखने और समझने के लिये एक

परिमाप भी होना चाहिये। जो लोग अपने दल को मजबूत करने के लिये धर्म का प्रचार तो करते हैं, लेकिन मनुष्यों के मानसिक और आत्मिक विकाश की ओर ध्यान नहीं देते, वे जीव जगत् के वास्तविक कल्याण करने के सुअवसर से वञ्चित रह जाते हैं।

अनन्त सृष्टि का बीज, अनन्त प्राणशक्ति मनुष्य की धरोहर के रूप में, उसके अन्तस्तल में ही विराजमान है किन्तु सभी मनुष्यों के बीच उसका स्फुरण समान रूप से नहीं होता। जो पीछे रह गये हैं, उनकी अग्रगति के लिये आचार्य जितना परिश्रम करेंगे, वे उतना ही आगे बढ़ेगे। जो लोग आगे बढ़ चुके हैं, जिनमें आध्यात्मिक विकाश का स्फुरण हो चुका है, उनकी अग्रगति के लिये, आचार्य को कम परिश्रम करना होगा। इसलिये अच्छी तरह याद रखो कि व्यष्टिगतरूप से तुमने जिनकी अग्रगति का थोड़ा सा भी दायित्व लिया है वे शरीर और मन दोनों से मनुष्य नहीं है। उनका केवल शरीर ही मनुष्य का है, किन्तु मानसिक धरातल पर अभी भी वे पाश्विक वृत्तियों का अतिक्रमण नहीं कर सके हैं। जो लोग मानव देहधारी पशु हैं, तुम्हें उनसे घृणा करने का अधिकार नहीं है। वे सभी तुम्हारे भाई हैं। कैसी देख-रेख की जाये कि कम से कम समय में तुम्हारा परिश्रम सार्थक हो सके, इस बात को भी अच्छी तरह सोच समझकर तुम्हें अपने प्रयत्न की रूप रेखा निर्धारित करनी होगी।

यम-नियम पर प्रतिष्ठित होना सभी साधनाओं का मूल आधार है। इसके द्वारा मनुष्य अपने कल्याण के साथ-साथ जगत् का कल्याण भी करता है। प्रगति पथ पर आगे बढ़ते हुये, अपनी यात्रा के चरम लक्ष्य, उस परम चैतन्य सत्ता के कल्याण सुन्दर स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। आचार्य को अत्यधिक सतर्क रहकर ऐसी योजना निर्धारित करनी होगी जिससे कि कम से कम समय में मनुष्य यम नियम में प्रतिष्ठित हो जाये। अपने इस कर्तव्य के प्रति उसे हमेशा सतर्क रहना होगा।

दुर्बल मन, बाहरी शक्तियों के प्रभाव में बहुत जल्द आ जाता है और बहिर्मुखी वृत्तियों का आश्रय लेकर, उन वृत्तियों के दास की तरह आचरण करने लगता है। जैसे किसी ने तुम्हें गाली दी। हो सकता है कि तुम यह जानते हो कि लोगों को अकारण गाली देना उसका स्वभाव है। फिर भी हो सकता है कि कुछ क्षण के लिये बाहरी प्रभाव का शिकार होकर (अर्थात उसकी गाली सुनकर) तुम भी क्रोधित हो जाओ। फिर हो सकता है कि दूसरे ही क्षण तुम्हारे मन में यह विचार आये कि इस प्रकार का व्यवहार करना (अर्थात क्रोधित होना) उचित नहीं हुआ। इसका कारण क्या? यही कि यम-नियम का पालन करने की ओर तुम्हारा ध्यान हमेशा नहीं रहता अर्थात तुम यम-नियम में अच्छी तरह प्रतिष्ठित नहीं हो। यम-नियम में प्रतिष्ठित मनुष्य भी कई बार गलतफहमी का शिकार होकर जानबूझकर हीन वृत्ति को प्रश्रय देता हैं ऐसी अवस्था में उन्हें दोषी ठहराना उचित नहीं। ऐसे मनुष्य के लिये यही उचित है कि भूल सुधार के साथ-साथ, सब के सामने अपनी गलती स्वीकार कर लें। यह उनके दृढ़ मन का ही परिचायक होगा।

पहले भी कह चुका हूँ कि यम-नियम मन को मजबूत करने की श्रेष्ठ औषधि है। यम-नियम में भी ब्रह्मचर्य और ईश्वर प्रणिधान का स्थान सर्वोच्च है क्यों कि इन दोनों का व्यवहार क्षेत्र सर्वव्यापक है। यम-नियम का प्रत्येक अंश मनुष्य को आगे ले जाता है। अत्यधिक कोलाहल से उस चिरन्तन सत्ता की ओर ले जाता है जिसे केवल सम्यक संयम के द्वारा ही पाया जाता है।

अहिंसा,सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये पाँच यम हैं, और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान- ये पाँच नियम हैं। इनमें से प्रत्येक अपने आप में सम्पूर्ण हैं। इनमें से प्रत्येक व्यवहारिक आचरण ही नहीं वरन् आन्तरिक संयम भी सिखाते है।

किसके साथ, किस अवस्था में कैसा व्यवहार करना होगा, या किस वस्तु के सम्बन्ध में मन में कैसी भावना लेनी होगी- यम-नियम के अनुशासन को ठीक तरह से मान कर चलने का अर्थ ही है- प्रज्ञा के पथ में आगे बढ़ना। इस प्रज्ञा की ओर साधक जितना आगे बढ़ता है, उसके मन से अष्ट पाश (घृणा-शंका-भयम्-लज्जा-जुगुत्सा चेति पञ्चमी/कूलं, शीलञ्च, मानञ्च अष्टौ पाशाः प्रकीर्तिताः) का कठोर बन्धन उतनाही शिथिल होता जाता है और अन्ततः पूरी तरह समाप्त हो जाता है। अति दुर्दान्त षट-रिपु[2] भी बाध्य होकर साधक की दासता स्वीकार कर लेते हैं।

इस प्रसंग में यह याद रखना आवश्यक है कि रिपु (शत्रु) कभी नष्ट नहीं होते। वरन् वे केवल विवेक बुद्धि की अधीनता स्वीकार कर लेते हैं। जिसकी विवेक बुद्धि जितनी सोई हुई है, वह उतना ही रिपु के वश में रहेगा। स्वभाव से ही दुष्ट एक मनुष्य है, वह विवेक बुद्धि का अनुशीलन नहीं करता, उसके मन में जब जिस वृत्ति का उफान उठता है, वह उसी वृत्ति का दास होकर रह जाता है और वैसा ही आचारण करता है। लोग क्या सोचेंगे? मेरे इस हीन कार्य से समाज की हानि होगी। मेरी शारीरिक-मानसिक और आत्मिक अधोगति हो रही है—उसमें इतना सोचने समझने लायक मानसिक सन्तुलन ही नहीं रहता।

जिसकी विवेकबुद्धि जाग्रत है वह रिपु के उफान आने पर सोच समझकर देखेगा कि इस अवस्था में इस वृत्ति को प्रश्रय देने से किसी की, किसी प्रकार की हानि तो नहीं होगी? किसी का अधोपतन तो नहीं होगा? और यदि उसे वैसा लगा तो वह उस अवस्था में अपने विवेक का सहारा लेकर रिपु का दमन करने के साथ-साथ कल्याण का पथ चुन लेगा। और देखेगा कि यदि उस वृत्ति के अनुरूप काम

करने से, किसी की क्षति या किसी के अधोपतन की संभावना नहीं है, तो उस अवस्था में वह अपनी विवेक–बुद्धि के द्वारा रिपु को परिचालित करेगा। याद रखोगे रिपु को दुर्बल करना तुम्हारा उद्देश्य नहीं है। तुम्हारा उद्देश्य है स्वयं को शक्तिशाली बनाना। जो यह सोचते हैं कि मुक्ति और मोक्ष पाने के लिये षट–रिपु की हत्या करना जरूरी है, वे ऐसा नहीं कर पायेंगे। वरन् इस प्रकार की अस्वाभाविक प्रक्रिया और अस्वाभाविक जीवन यात्रा के फलस्वरूप धीरे–धीरे वे स्वयं विभिन्न प्रकार के मानसिक रोगों का शिकार हो जायेंगे। सभी लोगों को यह समझाना होगा कि रिपु के नाश का अर्थ है अपने शरीर का भी नाश। इसलिये जो लोग रिपु का नाश करना चाहते हैं उनके पास आत्महत्या के अलावा और कोई रास्ता नहीं है। तथा कथित ब्रह्मचारियों का जो समूह रिपु को नष्ट करने का दावा करते हुये यहाँ से वहाँ घूमता रहता है, वह वास्तव में आत्म प्रवञ्चना के अलावा और कुछ नहीं है। आनन्दमार्ग इस प्रकार की आत्म प्रवञ्चना का घोर विरोधी है क्योंकि उससे आत्मा के स्फुरण, या स्पन्दन में ही बाधा नहीं पहुंचती, वरन् आत्मा ही सदा के लिये लूप्त हो जाती है, पतन के गर्त में गिर जाती है।

जीव जब तक अविद्या के प्रभाव में रहता है, तब तक वह अष्ट पाश और षट–रिपु के अधीन रहता है। जो लोग पाश–रिपु पर विजय प्राप्त नहीं कर सके हैं, ऐसे लोग सामान्यतः दण्ड पाने के डर से, और अपनी मर्यादा की रक्षा के लिये पाश–रिपु के प्रभाव में होने के बावजूद संयमित आचरण करते है। किन्तु मन ही मन में वे असंयमी रह जाते हैं। तर्क का समर्थन नहीं पाने के कारण उनका बाहरी आचरण कुसंस्कारपूर्ण या कहना चाहिये कि अभद्र नहीं रहता किन्तु उनके मन के भीतर से कुसंस्कार दूर नहीं हो पाता। मन के किसी कोने में कुसंस्कार अपनी जड़ें जमाये रहता है। कुसंस्कार का

मोह वास्तव में प्राचीन रूढ़ियों का, पुरानी परम्पराओं का मोह है। जहाँ यह मोह वास्तविक जगत् में अत्यधिक बाधा पहुँचाता है, वहाँ परिस्थित के दबाव के कारण लोग उसे अपने मन से धीरे-धीरे निकाल फेंकते हैं। किन्तु जहाँ परिस्थिति का दबाव नहीं है, वह यह दुर्बलता तो रह ही जाती है और वहाँ पर लोग तरह-तरह के तर्क-वितर्क के सहारे उसका (अर्थात कुसंस्कारों का) समर्थन करने की कोशिश करते हैं। उदाहरण के लिये, जब पहली बार रेलगाड़ी शुरू हुई तो अनेक लोगों ने रेलयात्रा को धर्मविरोधी कार्य कहा किन्तु आजकल परिस्थिति के दबाव में पड़कर सभी लोग रेलयात्रा के लिये मजबूर हो गये है और रेलयात्रा को धर्मविरोधी कार्य समझने वाली उनकी मानसिकता भी खत्म हो गई है। विदेश जाना, अर्न्तजातीय विवाह करना, तथाकथित निम्नकोटि के लोगों के यहाँ अन्न ग्रहण करना और इस प्रकार के कई कार्य जिन्हें पुराने लोग धर्मविरोधी मानते थे, आज परिस्थिति के दबाव के कारण उन्हें मानने को बाध्य हो गये हैं। और इन सब कार्यो को लेकर उनके मन में किसी प्रकार की झिझक भी नहीं रह गई है। इस प्रकार के कुसंस्कारों को दूर करने के लिये केवल पुस्तकीय ज्ञान पर्याप्त नहीं है। वरन् इसे दूर करने के लिये व्यष्टिगत (या निजी) जीवन में वास्तविक शुद्ध और पवित्र शिक्षा का अनुशीलन भी आवश्यक है। पूर्वजों के प्रति श्रद्धा का भाव अवश्य ही रखना होगा किन्तु सत्य को तो तुम अस्वीकार नहीं कर सकते। जैसे कि मान लो एक दुष्ट व्यष्टि का पुत्र सच्चा और साधु स्वभाव का है। इसका मतलब यह तो नहीं कि पिता जो कुछ कर रहा है, पुत्र को भी आँख मूंद कर वैसा ही करना होगा। पुत्र होने की हैसियत से, पिता के प्रति उसके मन में श्रद्धाभाव अवश्य ही रहेगा किन्तु अन्य क्षेत्रों में वह अपने पिता का अन्धा अनुकरण तो करेगा ही नहीं वरन् उनके स्वभाव में संशोधन के लिये, उनके दृष्टिकोण

को बदलने के लिये सभी प्रकार की कोशिशों का सहारा भी लेगा। पूर्वज लोग बैलगाड़ी में यात्रा करते थे, इसलिये आवश्यकता पड़ने पर भी पुत्र हवाई जहाज में बैठकर देश-विदेश की यात्रा नहीं करेगा— यह भी कोई मानने की बात है? पुत्र तो हवाई जहाज की यात्रा करेगा ही, पिता को भी हवाई-यात्रा के फायदे समझाकर उनके मन से हवाई जहाज-विरोधी भावना को दूर कर देगा। यही जीवन है। यही सर्वात्मक अग्रगति का पथ है। जड़ वस्तु की तरह अन्धे कुएं में पड़े-पड़े, प्राचीनता के मोह में फँसे रहकर, अफीमखोर की तरह नशे की धूत में दुम हिलाकर कहते रहोगे- "इसी तरह दिन बीतता जाये! बस, हमें और कुछ नहीं चाहिये।" इस तरह की मानसिकता को चाहे जो कहा जाये, किन्तु इससे प्राणों के स्पन्दन का, उसकी गतिशीलता का परिचय नहीं मिलता।

शिखा-सूत्र रखने की चाह, व्यष्टिगत अभिरूचि का मामला है। किन्तु कोई यदि कहना चाहे कि इसे तो हमारे पूर्वज रखा करते थे, इसलिये हम भी धारण कर रहे हैं— यह कोई तर्क संगत बात नहीं है। पूर्वज नागरा का जूता पहनते थे। हम तो दूसरे प्रकार का, आधुनिक किस्म का जूता पहनते हैं। वे लोग लाठी, बरछी, बल्लम से लड़ा करते थे। बाद में परिस्थिति के दबाव में पड़कर उन्होंने उसे छोड़ दिया और तीर-धनुष थाम लिया। फिर उसे भी छोड़कर आग्नेय अस्त्रों का व्यवहार क़रने लगे। अब प्रश्न उठता है कि प्राचीनता का मोह लेकर बैठे रहना, ही जीव धर्म होता तो क्या पृथ्वी पर आज भी लाठी, बरछी, और बल्लम का युग नहीं चलता? आज संसार की जो स्थिति है, उसमें अणुबम से खुद को बचाने के लिये, क्या लाठी लेकर खड़े रहने से काम चलेगा? हमारे पूर्वज धनुर्धर (तीरन्दाज) थे इसलिये वे पीठ पर तूणीर (तरकशः- तीर रखने का लम्बा खोल) बाँधा करते थे। आज क्या हम भी अपनी कमर पर तरकश

बाँधकर रास्ते में यहाँ से वहाँ घूमते रहेंगे?

प्राचीन काल में भारतीय आर्यगण विभिन्न प्रकार के यज्ञ इत्यादि किया करते थे (उन सभी यज्ञों का उन दिनों प्रयोजना था या नहीं? इस प्रश्न पर चर्चा करना फिलहाल हमारा विषय नहीं है)। और उन यज्ञों के दौरान संभवतः उन्हें उपवीत (सूत्र या जनेऊ) बाँधने की सामयिक उपयोगिता महसूस होती हो, किन्तु आज यज्ञ की धारा बदल गई है। आज यज्ञ की वेदी के साथ होम कुण्डका कोई सम्बन्ध नहीं रह गया है। वैज्ञानिक अनुसन्धान केन्द्र, कल-कारखाने, खेतों में दौड़ने वाले ट्रेक्टर, समुद्र के तल में चलने वाली पनडुब्बी- ये सभी आधुनिक यज्ञ की कर्मशालायें हैं। इन यज्ञों को संचालित करने वाले वैज्ञानिकों, डाक्टरों, शिक्षकों, कृषकों, श्रमिकों, पायलट, और इंजन चालकों को यज्ञोपवीत की कोई आवश्यकता नहीं है। सच तो यह है कि प्राचीन काल में भी जो लोग कुसंस्कार मुक्त ज्ञान साधक थे, वे लोग भी शिखा-सूत्र की व्यर्थता को अच्छी तरह समझ गये थे। अथर्ववेद की नारद परिव्राजक श्रुति में ब्रह्मा, नारद से कहते हैं:-

**सशिखं वपनं कृत्वा बहिः सूत्रं त्यजत् बुधः।**
**यदक्षरं परं ब्रह्म तत् सूत्रमिति धारयेत्॥**

**सूचनात् सूत्रमित्याहुः सूत्रम्नाम परं पदम्।**
**तत् सूत्रम् विदितं येन स विप्रो वेद पारगः॥**

**येन सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव।**
**तत् सूत्रं धारयेत योगी योगवित्तत्व दर्शिनः॥**

**बहिः सूत्रं त्यजेत् विद्वान योगमुत्तम आश्रितः।**
**ब्रह्म भावम् इति सूत्रं धारयेत् यः स चेतनः**
**धारणात् तस्य सूत्रस्य नोच्छिष्टा नाशुचिर्भवेत्॥**

सूत्रम् अन्तर्गत येषाभ् ज्ञान यज्ञोपवीति नाम्।
तेवै सूत्रविदो लोके ते च यज्ञोपवीतिनः ॥

ज्ञानशिखिनो ज्ञान निष्ठः ज्ञानयज्ञोपवीतिनः।
ज्ञानमेव परं तेषाम् पवित्रं ज्ञानमुच्यते ॥

अग्नेरिव शिखा नान्या यस्य ज्ञानमयी शिखा।
स शिखी तुच्चते विद्वान्ने तरे केशधारिनः।।

अर्थात बुद्धिमान मनुष्य शिखा के साथ पूरा सर मुण्डन करके बाहरी उपवीत पहनने की रीति त्याग करेंगे और उस अक्षर ब्रह्म को अपने सूत्र के रूप में ग्रहण करेंगे, जिसके द्वारा उस परम श्रेय की प्राप्ति होती है, उसी परमपद की प्राप्ति के कारण स्वरूप को ही सूत्र कहा गया है। उस सूत्र को जिन लोगों ने धारण किया है, वास्तव में वे ही वेदज्ञ ब्राह्मण हैं। सूत्र में जिस प्रकार मणिसमूह गुँथे रहते हैं, इसी प्रकार योगविद्, तत्वदर्शी योगी। एकमात्र उसी ब्रह्म को ही सूत्ररूप में ग्रहण करेंगे। बुद्धिमान व्यष्टि, उत्तम योग में प्रतिष्ठित व्यष्टि, बाहरी सूत्र का त्याग करेंगे क्यों कि ब्रह्मभाव रूपी वास्तविक सूत्र को जो ग्रहण करते हैं वे ही चेतन (चैतन्यशील सत्ता) कहलाने के अधिकारी हैं। इस सूत्र को ग्रहण करने वाला अपवित्र और त्याज्य नहीं रह जाता। जिनके हृदय में यह ब्रह्म सूत्र विद्यमान है जिन्होंने इस ब्रह्मसूत्र को अपने हृदय में संजोये रखा है, वे ही ज्ञानरूपी यज्ञोपवीत धारण किये हुये हैं। इस त्रिभुवन में वे ही वास्तविक सूत्रविद् या ब्रह्मविद् हैं। वे ही सच्चे अर्थो में उपवीतधारी है। जिन्होंने ज्ञानरूपी शिखा धारण की है, जिनकी ज्ञान के प्रति निष्ठा है। उन्होने ही ज्ञान स्वरूप यज्ञोपवीत धारण किया है। वे लोग ज्ञान को ही पवित्रतम वस्तु समझते हैं। जिस तरह अग्नि-शिखा होती है, वैसे ही व्यष्टि की ज्ञानरूपी शिखा होती है। ऐसे व्यष्टि ही

वास्तव में शिखी या शिखाधारी कहे जाते हैं। जो लोग लौकिक शिखा (आम तौर पर उसे चोटी कहा जाता है) रखते हैं वे केवल केशधारी व्यष्टि या सामान्य व्यष्टि हैं।

ब्रह्मा और आगे भी कहते हैं:-

**शिखा ज्ञानमयी यस्य उपवीतं चिन्मयं।**
**ब्राह्मण्यं सकलं तस्य इति ब्रह्मविदो विदूः॥**

अर्थात जिनकी शिखा ज्ञानमयी (ज्ञान ही जिनकी शिखा है), जिनका उपवीत भी ज्ञान से निर्मित हुआ है, उनके ही हृदय में ब्रह्मत्व पूरी तरह विद्यमान रहता है। ऐसे लोगों को ही ब्रह्मविद कहते हैं।

जिस तरह कुसंस्कार के साथ ज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं रह सकता, उसी तरह कर्मवाद के साथ भी कुसंस्कार का कोई सम्पर्क नहीं रह सकता, क्यों कि कर्मवाद भी विवेक पर आधारित है। गौतम बुद्ध भी कर्मवादी थे। गीता, जिसमें बड़ी चतुराई से पौराणिक बातें, बौद्ध मत के अंश और उपनिषदों के कुछ सिद्धान्त शामिल कर लिये गये हैं, गीता में भी कर्म को यथेष्ट महत्व दिया गया है। मार्कण्डेय पुराण (जिसका एक हिस्सा दुर्गा सप्तशदी और चण्डी के नाम से विख्यात है), जो कि मूलत: वैदिक कर्मवाद पर प्रतिष्ठित है, उसमें भी कुसंस्कार को प्रश्रय नहीं दिया गया है। किन्तु सब से अधिक दुख का विषय ये है कि जो व्यष्टि मुंह से कर्म के आदर्श का प्रचार करते हैं, वे ही कहते हैं कि गंगा-स्नान करने से सारे पाप धुल जाते है। इस तरह की बातों के पीछे क्या तुम्हें कोई विवेक दिखाई देता है? उत्तर भारत की अधिकांश भूमि गंगा नदी के द्वारा पालित-पोषित हुई हैं गंगा की जलधारा ने वहाँ की भूमि को उपजाऊ बनाया है। इसलिये उत्तर भारत के निवासियों के मन में गंगा के प्रति श्रद्धा की भावना का होना एक स्वाभाविक बात है।

मोटे तौर पर इस तरह की श्रद्धा कोई बुरी चीज़ नहीं है। अन्य नदियों की तरह गंगा जल में स्नान करने से शरीर स्निग्ध होता है। हिमालय के औषधियुक्त पेड़-पौधों और जड़ी-बूटियों से भरे जंगल के मध्य से प्रवाहित होने के कारण गंगा-जल में थोड़ा बहुत रोग दूर करने के गुण भी है। किन्तु गंगा स्नान करने से जन्म-जन्मान्तर के पाप धुल जायेंगे— यह बात एक दम निरर्थक है। आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में गंगा जल अपरिहार्य भी नहीं हो सकता, क्योंकि साधना अर्न्तमन की वस्तु है। बाहर की किसी भी चीज़ पर उसकी निर्भरशीलता उचित नहीं है। दूसरी बात यह कि गंगा सभी देशों में नहीं केवल भारतवर्ष में ही है। जबकि साधना सर्वदेशीय है। इसलिये कहता हूँ कि किसी के द्वारा, किसी की महत्ता के प्रचार के प्रभाव में आकर हमें अपना सामान्य ज्ञान, अपनी विवेक बुद्धि को नहीं खोना चाहिये। हमें वही काम करना चाहिये जो तर्क संगत हैं। पुण्य का लोभ दिखाकर नदी के स्नान घाट में महिलाओं और बच्चों की भीड़ बढ़ाने से किसी का लाभ नहीं होता वरन् समाज विरोधी दुष्टों का काम आसान हो जाता है।

प्राचीनकाल के बुद्धिमान शोषकों ने, जनसाधारण की अशिक्षा, सरलता और मूर्खता का लाभ उठाकर अनोखे और अदभूत प्रलोभनों का प्रचार किया। और कहीं-कहीं उन्हें किसी चीज़ का भय भी दिखाया। इन सबके पीछे उनका एक ही उद्देश्य था— एन-केन-प्रकारेण, परिस्थिति का दबाव पैदा करके उनका शोषण करना। जन-साधारण तर्क का सहारा नहीं लेता। अनेक लोग आज भी नहीं लेते। वे लोग जब तक ना समझ बन कर बैठे रहेंगे, तब तक शोषकों का दल, अबाध गति से उनका शोषण करता रहेगा। जन साधारण को धीरे-धीरे ज्ञान के पथ कर लाना होगा। उनका बौद्धिक विकाश करना होगा।

जनसाधारण को विकाश के पथ पर ले चलने के लिये, इस काम को अच्छी तरह से करने के लिये, तुम्हारे मन में उनके प्रति सच्चा प्रेम होना चाहिये। उनकी अवस्था, उनकी समस्या और उनके मन की भावनाओं को समझ कर ही उन्हें उचित दिशा-निर्देश देना होगा। हठात् किसी को जटिल साधना मत सिखाओं। हठात् किसी को साधना से सम्बन्धित बहुत ज्यादा प्रक्रियाओं को मत सिखाओ। देखो, कि वह किस प्रकार सहजभाव से आनन्दपूर्वक साधना को ग्रहण कर सकता है। साधना की प्रक्रिया उसके लिये बोझ न बनने पाये। अधिक प्रक्रियाएं सीखने के लिये जिनमें उग्र आकाँक्षा है, उस मामले में भी अच्छी तरह से सोच समझकर देखोगे कि इस प्रकार की साधना करने के लिये उसके पास पर्याप्त समय है या नहीं। जैसे, जो छात्र हैं, उन्हें प्रारम्भिक साधना या आसन के साथ प्रारम्भिक साधना से अधिक कुछ और नहीं सिखाना ही अच्छा है, क्योंकि उनके पास समय कम है। छात्र जीवन पूर्ण होने के बाद, उसके पास जब यथेष्ट समय रहेगा, तब वह सहज भाव से जटिलतर साधना का अभ्यास कर सकेगा। छात्र जीवन में उसके हृदय में जो बीज बोया गया था और जो अंकुरित हुआ था, जटिलतर साधना करने से वह कम समय में ही विशाल वृक्ष का रूप धारण कर लेगा। हाँ, जिनके पास समय का अभाव है, ऐसे मनुष्यों में भी यदि साधना करने की उग्र इच्छा देखो, तो अपने आचार्य से परामर्श करके उनके लिये उचित व्यवस्था कर सकते हो।

आचार्य! याद रहे कि छात्र किशोर, और युवक ही भविष्य के समाज गुरू हैं। इसलिये उनके मन को कुसंस्कार से मुक्त करना ही होगा। शोषकों के पंजों से उन्हें मुक्ति दिलानी ही होगी, क्योंकि शोषकगण उनके ज्ञान की भूमि को सीमित करके रखना चाहेंगे। कभी-कभी, यह भी देखोगे कि जो व्यष्टि धर्मव्यवसायी है, अर्थात

गुरूगिरी या पुरोहित गिरी करते हैं किन्तु आनन्दमार्ग के दर्शन और आदर्श से मुग्ध होकर सच्चे हृदय से आग्रह करके मार्ग की दीक्षा लेना चाहते हैं। ऐसे व्यष्टि को उस अवस्था में दीक्षा न देना ही अच्छा है। उनसे कहना होगा कि वे धीरे-धीरे अपनी आजीविका बदल लें। एक दो दिन, या एक-दो माह में यह संभव नहीं। तब भी आजीविका तो उन्हें बदलनी ही होगी। अन्यथा वह दीक्षा लेने का अधिकार नहीं पायेगा। क्योंकि व्यष्टिगत जीवन में जो मनुष्य आनन्दमार्गी पद्धति से निराकार ब्रह्म की उपासना करता है, वही यदि आजीविका के क्षेत्र में कुसंस्कारपूर्ण, भ्रान्तिपूर्ण साधना पद्धति दूसरों को सिखाता है, तो क्या यह बात अत्यन्त निन्दनीय नहीं है? इस मामले में आचार्यो का अत्यन्त कठोर होना आवश्यक है।

आचार्य और तात्विकों को व्यष्टिगत जीवन में सभी प्रकार के कुसंस्कारों से मुक्त होना ही होगा, क्योंकि वे शिक्षादाता हैं। किसी आनन्दमार्गी द्वारा प्रत्यक्षरूप से (जहाँ का वह रहने वाला है वहाँ) आयोजित किसी उत्सव में यदि कुसंस्कार का कोई सम्बन्ध है, तो उस अवस्था में, वहाँ निमन्त्रित आचार्य और तात्विक, प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से किसी भी प्रकार का योगदान नहीं करेंगे। जितने भी प्राचीन रीति-रिवाज चर्याचर्य में वैकल्पिक या सामयिक व्यवस्था के रूप में स्वीकृत हैं, उसका अनुष्ठान भी यदि कोई आनन्दमार्गी (वे तात्विक आचार्य या जो भी हों) करे तो अन्य कोई आचार्य और तात्विक उसमें अपना योगदान नहीं देंगे। किन्तु

उस कुसंस्कार पूर्ण उत्सव को लेकर आपस में किसी प्राकर की आलोचना, उत्तेजना का प्रदर्शन या हो-हल्ला भी नहीं करेंगे,क्योंकि इससे दूसरों के कुसंस्कारपूर्ण आचरण का चिन्तन ही उनके मन का प्रधान विषय हो जायेगा!

****

# सीधी बात

साधुता, सरलता और तेजस्विता के साथ कल्याण मूलक काम में स्वयं को पूर्णरूप से व्यस्त रखो। उससे यदि तुम्हारी निन्दा होती है तो समझो कि तुम्हारा काम ठीक तरह से हो रहा है। क्योंकि तुम्हारे काम से निहित स्वार्थी तत्वों के स्वार्थ को चोट लग रही है इसलिए उनकी ओर से (तुम्हारी निन्दा करने की) प्रतिक्रिया व्यक्त की जा रही है।

**निहित स्वार्थ के पोषक कौन हैं?**

(1) जिन्होंने मनुष्य की अज्ञानता का लाभ उठाकर जगत् की अधिकांश सम्पति को अपने पेट में भर लिया है और जनसाधारण को अन्न-वस्त्रहीन करके उन्हें दुर्बल बना दिया है। और लोगों के बीच यह जो अर्थिक भेद-भाव दिखाई देता है, यह एक तरह की सामाजिक व्याधि है जो कि निहित स्वार्थी तत्वों के शोषण से ही उपजी है। वे शोषक तत्व अपने शोषण को उचित ठहराने के लिये कर्मवाद[3] की गलत व्याख्या करते हैं। ये लोग तुम्हारी निन्दा करेंगे क्योंकि आनन्दमार्ग जगत् की समस्त सम्पति को सभी मनुष्यों की सम्पत्ति मानता है।

(2) जिन्होंने मनुष्य की अज्ञानता का लाभ उठा कर, उनके मन में भूत-प्रेत और प्लेन-चिट का कुसंस्कार भर दिया है। कुल देवता के श्राप और भूत से डरा दिया है। जो लोग श्राद्ध से मृतक की मुक्ति-लाभ, तीर्थ, गोबर-गंगाजल और मूर्तिपूजा की महिमा का बखान कर रहे हैं—वे सभी तुम्हारे विरूद्ध दुष्प्रचार करेंगे। क्योंकि तुम्हारे कार्यो से जनसाधारण की आँखें खुल जायेंगी। जिसके कारण वे लोग कपोल-कल्पित कहानियाँ सुनाकर या भय दिखा कर

जनसाधारण का और अधिक शोषण नहीं कर सकेंगे। पुराणों की काल्पनिक और अश्लील कहानियाँ सुनाकर, वे मनुष्यों को प्रागैतिहासिक युग की ओर वापस नहीं ले जा सकेंगे।

(3) जिन्होंने मनुष्य की अज्ञानता का लाभ उठाकर जाति और सम्प्रदाय जैसे कई प्रकार के भेदभाव का निर्माण करके, सम्पूर्ण मानव जाति की एकता की बुनियाद को ही कमजोर बना दिया है। जो लोग मुंह से शान्ति का राग अलापते हैं। बाहरी तौर पर शान्ति के दूत बनकर शान्ति की प्रेरणा देते हैं। और भीतर ही भीतर गुप्त रूप से अपने दलगत और व्यष्टिगत स्वार्थ सिद्धि के लिये षडयन्त्र करते हैं। घातक अस्त्रों का निर्माण करके धरती और आकाश के वायुमण्डल को दूषित करते हैं- उन्हें तुम्हारी बातें अच्छी नहीं लगेंगी।

(4) जिन्होंने एक मानव समाज में जाति भेद पैदा करके, मनुष्य और मनुष्य के बीच छूआछूत की भावना भर दिया है। अपनी इसी हीन मनोवृत्ति के समर्थन में मोटी-मोटी किताबें लिख रखी हैं–वे लोग और चाहे जो हों, लेकिन उनमें सुहृदयता का लेशमात्र भी नहीं है। वे लोग तुम्हें बाधा पहुंचायेंगे, क्योंकि तुम किसी की काल्पनिक श्रेष्ठता को नहीं मानते। तुम चाहते हो कि मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा अपनी श्रेष्ठता को स्थापित करे। तुमने इस बात को अच्छी तरह समझ लिया है कि बुद्धिमान मनुष्य की शोषणकारी बुद्धि से ही जाति भेद की उत्पति हुई है—इसलिये शोषकगण, निश्चित रूप से, तुम्हारी इस तरह की दो टूक बातों का प्रचार नहीं चाहते।

(5) जो लोग साधना में जातिगत और आश्रमगत भेदभाव को प्रश्रय देते हैं। जो कहते हैं कि संन्यासी ही साधना का श्रेष्ठ अधिकारी है। गृहस्थ आश्रमी पापी है।(और ऐसा कहते समय यह भूल जाते हैं कि गृहस्थ लोगों के अन्न से ही वे अपना जीवन यापन कर रहे हैं)।

तुम्हारी साधना के प्रचार के फलस्वरूप गृहस्थ लोगों की आँखें खुल जाने से, मठ का निर्माण करके, गाञ्जा पीकर दुराचार चलाये रखने के सुअवसर से वे लोग वञ्चित हो जायेंगे। इसलिये वे लोग तुम्हें बाधा पहुँचाने की चेष्टा करेंगे।

(6) जो लोग अपनी अज्ञानता को छुपाये रखने के लिये कहीं-कहीं ज्ञान की निन्दा करते हुये कहते हैं-"तर्क से कुछ भी हासिल नहीं होता, वरन् विश्वास से ही फल की प्राप्ति होती है।" ऐसे लोगों के कानों को तुम्हारी विवेकपूर्ण विचारधारा अच्छी नहीं लगेगी। जो लोग किसी श्लोक की गहराई में न जाकर केवल ऊपर ही ऊपर उसे पढ़ लेते हैं। वे यह भी नहीं जानते कि उनके शास्त्र में ही कहा गया है कि यदि शिशु भी युक्तिपूर्ण बात करता है तो उसे स्वीकार करना चाहिये और यदि स्वयं ब्रह्मा भी तर्कहीन बातें कहें तो उसे तिनके की तरह, फेंक देना चाहिये। उनके कानों को तुम्हारी बातें अच्छी नहीं लगेगी क्योंकि तुम्हारी बातों से उनके विद्यारूपी जहाज में छेद हो जायेगा। उनकी गुप्त दुराचार की कहानियों को सुनकर लोगों की आँखें खुल जायेंगी—अर्थात् भरे बाज़ार में उनका भण्डा फोड़ हो जायेगा।

(7) जो लोग बातों-बातों में मनुष्य की निन्दा करते हैं। उन्हें समाज की मुख्य धारा से दूर रखते हैं। बेरोज़गार युवकों को अपमानित करके, उनका उपहास उड़ाकर उन्हें समाज से बहिष्कृत करके रखना चाहते हैं। सच्ची सहानुभूति के साथ मनुष्य के मनोभाव को समझकर उनकी समस्या का समाधान करना नहीं चाहते - वे लोग तुम्हें आधुनिक कहकर तुम्हारा उपहास उड़ायेंगे। किन्तु तुम लोग साधुता, सरलता और तेजस्विता के साथ उनके स्वार्थ से परिपूर्ण घरौंदों को तोड़ दो।

(8) निहित स्वार्थी तत्व तुम्हारी निन्दा करें तो तुम आनन्दित होओ, क्योंकि इससे यही प्रमाणित होगा कि तुम्हारी औषधि ठीक काम कर रही है- तभी तुम्हें प्रतिक्रिया दिखाई दे रही है। मिल-जुलकर काम करते जाओ। क्षुद्र स्वार्थ का किला टूट कर तहस नहस हो जायेगा।

****

---

1- षट्रिपु अर्थात (1) काम (2) क्रोध, (3) लोभ (4) मोह (5) मद ओर (6) मात्सर्य

2- षट्रिपु अर्थात (1) काम (2) क्रोध, (3) लोभ (4) मोह (5) मद ओर (6) मात्सर्य

3- शोषकों के प्रेस से छपने वाली तथाकथित धार्मिक पुस्तकों में यह लिखा जा रहा है कि लोगों की गरीबी, शोषण का नहीं, वरन् पूर्वजन्म में किये गये उनके दुष्कर्मो का फल है। जबकि सच तो ये है कि:- हक दूजे दा मार-मार के बन्दै लोग अमीर मैं ऐणु कैंदा चोरी, दुनिया कैंदी तकदीर
-अनुवादक।